

यस्य ब्रह्मेति संज्ञां क्वचिदपि निगमे याति चिन्मात्रसत्ता
प्यांशो यस्यांशकैः स्वैर्विभवति वशयन्नेव मायां पुमांश्च ।



मुरली मनोहर नं० २.

एकं यत्केव रूपं विलसति परमव्योम्नि नारायणाख्यं,
स श्रीकृष्णो विधत्तां स्वयमिह भगवान् प्रेम तस्यादभाजाम् ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



सत्यं शौर्यतपःक्षमाऽमृतवचोऽर्हिसाश्च श्रद्धालुताम् ।
प्रीतिं भूतदयां जनेऽपि सकले सौहार्दमापादयन् ॥
भक्तिं कल्मषनाशिनीं भगवतीमानन्ददां वर्द्धयन् ।
कल्याणं वितनोतु नोऽभयकरः कल्याणरूपो हरिः ॥

भाग १

मार्गशीर्ष संवत् १९८३.

संख्या ५

रूपमाधुरी ।

लोचन हरत अंबुज मान ।

चक्रित मनमथ सरन चाहत धनुष तजि निज बान ॥

चिकुर कोमल कुटिल राजन रुचिर विमल रूपाल ।

नील नलिन मुगन्ध ज्यौं रस थकित मधुकर लोल ॥

श्याम ऊपर परम सुन्दर सजल मोतिन हार ।

मनो मर्कट शैलते बहि चली सुरसरि धार ॥

सूर कटि पट पीत राजत सुभग छवि नँदलाल ।

मनो कनक लता अत्रलि बिच तरल विटप तमाला ।

(मुरदासजी)

मनके प्रति ।

(१)

इधर उधर क्यों भटक रहा मन भ्रमर भ्रान्त उद्देश्य विहीन ।
क्यों अमूल्य अवसर जीवनका व्यर्थ खो रहा तू मतिहीन ॥
क्यों कुवास-कण्टकयुत विषमय विषय-बेलि पर ललचाता ।
क्यों सहता आघात सतत क्यों दुःख निरन्तर है पाता ॥

(२)

विश्ववाटिकाके प्रति-पद पर भटक भले ही हो अति दीन ।
खाकर ठोकर द्वार द्वार पर हो अपमानित हीन मलीन ॥
सहले कुछ सन्ताप और यदि तुझको ध्यान नहीं होता ।
हो निराश निर्लज्ज भ्रमण कर, फिर चाहे खाते गोता ॥

(३)

विषय-कुसुमको कमल समझ कर भ्रमसे हो रह उसमें लीन ।
चाहे विष-पूरित भोगोंको सलिल समझकर बनजा मीन ॥
पर न जहांतक तुझे मिलेगा पावन प्रभु-पद-पद्म-पराग ।
होगा नहीं जहांतक उसमें अनुपम तव अनन्य अनुराग ॥

(४)

कर न तुझेगा तू जवतक अपनेको वस्तु, उसके आधीन ।
होगा नहीं जहांतक तू स्वर्गीय-सम्प-सौख्य आसीन ॥
नहीं मिलेगा तप वहांतक नहीं दूर होगी यह भ्रान्ति ।
नहीं मिलेगी शान्ति सुखप्रद नहीं मिलेगी भीषण श्रान्ति ॥

(५)

इससे हो सत्त्वर, सुन्दर शुचि चरण-सगेरुहमें तल्लीन ।
कर मकरन्द मधुर आस्वादन पाप रहित हो पावन पीन ॥
भय भ्रम भेद त्याग कर, सुखमय सतत सुधारस कर तू पान ।
शान्त-अमर हो, शरणद चरणयुगलका कर नित गुणगण गान ॥

—अकिञ्चन

अविनयमथनय विष्णो दमय मनः शमय विषयभृगतृष्णाम् ।
भूतदयां विस्तारय तारथ संसार सागरतः ॥ १ ॥
दिव्यधुनामकरन्दे परिमल परिभोग सञ्चिदानन्दे ।
श्रीपति पद्मारविन्दे भवभयखेदच्छिन्दे वन्दे ॥ २ ॥

सत्यपि भेदाथगमं नाथ तवाहं न मामकौनस्त्वम् ।
सामुद्रोहि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥ ३ ॥
उद्धतनग नगभिदनुजं दनुजकुलामित्र मित्रशशिदृष्टे ।
दृष्टं भवति प्रभवति न भवति किं भवतिरस्कारः ॥ ४ ॥



मत्स्यादिभिरवतारैरवतारवतावता सदा वसुधाम् ।
परमेश्वर परिपालयो भवता भवतापयोतोऽहम् ॥ ५ ॥
दामोदर गुणमन्दिर सुन्दरवदनारविन्द गोविन्द ।
भवजलशि मथनमन्दर परमं दरमपलय त्वं मे ॥ ६ ॥

जगद्गुरु श्रीमच्छङ्कराचार्य

नागायण करुणामय शरणं करवाणि तावकौ चरणौ ।
इति षट्पदी वदिये वदन सरोजे सदा वसतु ॥ ७ ॥

(आचार्यकृत षट्पदी)

ज्ञानकी दुर्लभता और उसकी प्राप्तिका उपाय ।

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

किसी श्रद्धालु पुरुषके सामने भी वास्तविक दृष्टिसे महापुरुषोंके द्वारा यह कहना नहीं बन पड़ता कि “हमको ज्ञान प्राप्त है” क्योंकि इन शब्दोंसे ज्ञानमें दोष आता है। वास्तवमें पूर्ण श्रद्धालुके लिये तो महापुरुषसे ऐसा प्रश्न ही नहीं बनता कि “आप ज्ञानी हैं या नहीं?” जहां ऐसा प्रश्न किया जाता है वहां श्रद्धामें त्रुटि ही समझनी चाहिये और महापुरुषसे इस प्रकारका प्रश्न करनेमें प्रश्नकर्ताकी कुछ हानि ही होती है। यदि महापुरुष यों कह दे कि मैं ज्ञानी नहीं हूँ तो भी श्रद्धा घट जाती है और यदि वह यह कह दे कि मैं ज्ञानी हूँ तो भी उसके मुँहसे ऐसे शब्द सुनकर श्रद्धा कम हो जाती है। वास्तवमें तो मैं अज्ञानी हूँ या ज्ञानी इन दोनोंमें से कोई सी बात कहना भी महापुरुषके लिये नहीं बन पड़ता यदि वह अपनेको अज्ञानी कहे तो मिथ्यापनका दोष आता है और यदि ज्ञानी कहे तो नानात्वका। इसलिये वह यह भी नहीं कहता कि मैं ब्रह्मको जानता हूँ और यह भी नहीं कहता कि मैं नहीं जानता। वह ब्रह्मको जानता है ऐसा भी उससे कहना नहीं बनता परन्तु वह नहीं जानता हो ऐसी बात भी नहीं है। श्रुति कहती है:—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।

यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

(केन १।२-३)

इसलिये इसका नाम अनिर्वचनीय स्थिति है। इसलिये वेदमें दोनों प्रकारके शब्द आते हैं और उन्हींके लिये महापुरुष यह नहीं कहते कि मुझे

प्राप्ति हो गयी। इस सम्बन्धमें वे स्वयं अपनी ओरसे कुछ भी न कहकर वेद और शास्त्रोंकी तरफ संकेत कर देते हैं। परन्तु ऐसा भी नहीं कहते कि मुझे प्राप्ति नहीं हुई। ऐसा कहना तो उत्तम आचरण करनेवाले आचार्य या नेता पुरुषोंके लिये भी योग्य नहीं, क्योंकि इससे उनके अनुयायियोंका ब्रह्मकी प्राप्तिको अत्यन्त कठिन मानकर निराश होना सम्भव है। जैसे यदि आज कोई परम सम्माननीय पुरुष कह दे कि मुझे प्राप्ति नहीं हुई है, मैं तो स्वयं प्राप्तिके लिये उत्सुक हूँ तो ऐसा कहनेसे उनके अनुयायीगण या तो यह समझ बैठते हैं कि जब इनको ही प्राप्ति न हुई तो हमको क्याकर होगी या यों समझ लेते हैं कि इतने अंशमें सम्माननीय पुरुषके शब्द या तो अयथार्थ हैं या असली स्थितिको छिपानेवाले हैं और इस प्रकारके दोषारोपसे उन लोगोंकी श्रद्धामें कुछ कमी होना सम्भव है। अतएव इस विषयमें मौन ही रहना चाहिये। इन सब बातों पर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि महापुरुषके लिये ज्ञानी वा अज्ञानी किसी भी शब्दका प्रयोग उसके अपने मुखसे नहीं बनता। इतना होते पर भी महापुरुष यदि अज्ञानी साधकको समझानेके लिये उसे ज्ञानोपदेश करते समय उन्हींकी भावनाके अनुसार अपनेमें ज्ञानीकी कल्पना कर अपनेको ज्ञानी शब्दसे सम्बोधित कर दे तो भी कोई हानि नहीं, वास्तवमें उसका यों कहना भी उस साधककी दृष्टिमें ही है और ऐसा कहना भी उसी साधकके सामने सम्भव है जो पूर्ण श्रद्धालु और परम विश्वासी हो, जो महापुरुषके शब्दोंको सुनते सुनते ही स्वयं वैसा बनता जाय और जिस स्थितिका वर्णन महापुरुष करते हैं उसी स्थितिमें स्थित हो जाय। इस पर ऐसा कहा जा सकता है कि श्रद्धा

और विश्वास तो पूर्ण है परन्तु वैसी स्थिति नहीं होती इसके लिये वह विचारा श्रद्धालु साधक क्या करे ? यह ठीक है, परन्तु साधकके लिये इतना तो परमावश्यक है कि वह श्रवणके अनुसार ही एक ब्रह्ममें विश्वासी होकर उसीकी प्राप्तिके लिये पूरी तरहसे तत्पर हो जाय, जबतक उसे प्राप्ति न हो तबतक वह उसके लिये परम व्याकुल रहे। जैसे किसी मनुष्यको एक जानकारके द्वारा उसके घरमें गड़ा हुआ धन मालूम हो जाने पर वह उसे खोदकर निकालनेके लिये व्याकुल होता है, यदि उस समय उसके पास बाहरके आदमी बैठे हुए हों तो वह सच्चे मनसे यही चाहता है कि कब यह लोग हटें, कब मैं अकेला रहूँ और कब उस गड़े हुए धनको निकालकर हस्तगत कर सकूँ। इसी प्रकार जो साधक यह समझता है कि मेरे साधनमें बाधा देनेवाले आसक्ति और अज्ञान आदि दोष कब दूर हों और कब मैं अपने परम-धन परमात्माको प्राप्त करूँ। जितनी ही देर होती है उतनी ही उनकी व्याकुलता और उत्कण्ठा उत्तरोत्तर प्रबल होती चली जाती है और वह उस विलम्बको सहन नहीं कर सकता। यदि इस प्रकारके साधकके सामने महापुरुष स्पष्ट शब्दोंमें भी अपनेको जानी स्वीकार कर ले तो भी कोई हानि नहीं, परन्तु इससे नीची श्रेणीके साधक और अपूर्ण प्रेमियोंके सामने यों कहनेसे उस महापुरुषकी तो कोई हानि नहीं होती परन्तु अधिकारी होनेके कारण उस सुननेवालेके धार्मिक विषयमें हानि होना सम्भव है। यदि यह बात सभीको स्पष्ट कहनेकी होती तो शास्त्रोंमें इसे परम गोपनीय न कहा जाता और केवल अधिकारीको ही कहनी चाहिये ऐसी विधि न होती।

कोई यह कहे कि महापुरुषकी परीक्षा कैसे की जाय और यदि बिना परीक्षाके ही किसी अयोग्य व्यक्तिको गुरु वा उपदेशक मान लिया जाय तो शास्त्रोंमें उससे उलटी हानि होना कहा गया है यह

प्रश्न और शास्त्रोंका कथन तो उचित ही है परन्तु जिसका संग करनेसे परमात्मामें, उस महापुरुषमें और शास्त्रोंमें श्रद्धा उत्पन्न हो जाय, उसे गुरु वा उपदेशक माननेमें कोई हानि नहीं। यदि कोई पूर्ण न भी हो तो जहांतक उसकी गम्य है वहांतक तो वह पहुँचा ही सकता है, (इस दृष्टिसे महापुरुषकी संगति करनेवाले साधकोंका संग भी उत्तम और लाभदायक है) आगे परमात्मा स्वयं उसे निभा लेते हैं। साधकको अवश्यकता है उस परमात्माके परायण होनेकी। श्रीपरमात्माकी शरण लेने मात्रसे ही सब कुछ हो सकता है। भगवान्ने कहा है:—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता अ० ९ श्लोक २२)

अर्थात् जो अनन्य भावसे मेरेमें स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भावसे भजते हैं उन नित्य एकीभावेसे मुझमें स्थित पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ। संसारमें भी यही बात देखनेमें आती है कि यदि कोई किसीके परायण हो जाता है तो उसकी सारी संभाल वही रखता है, जैसे बच्चा जबतक अपनी माताके परायण रहता है तबतक उसकी संभाल और जव प्रकृष्टकी संभालका भार माता स्वयं ही अपने ऊपर लिये रहती है, जबतक बालक बड़ा होकर स्वतन्त्र नहीं होता तबतक मातापिताके प्रति उसकी परायणता रहती है और जबतक परायणता रहती है तबतक मातापिता पर ही उसका सारा भार है। इसीप्रकार केवल एक परमात्माकी शरण लेनेसे ही सारे काम सिद्ध हो सकते हैं। परन्तु शरण लेनेका काम साधकका है। शरण होनेके बाद तो प्रभु स्वयं उसका सारा भार संभाल लेते हैं। अतएव कल्याणके प्रत्येक साधकको परमात्माकी शरण लेनी चाहिये।

